विपश्यना

साधकों का
मासिक प्रेरणा पत्र

बुद्धवर्ष २५३० | आश्विन पूर्णिमा | १७ अक्तूबर १९८६ | वर्ष १६ अंक ४

धम्म वाणी

जिघच्छा परमा रोगा,
सङ्खारा परमा दुखा ।
एतं ञत्वा यथाभूतं,
निब्बानं परमं सुखं ॥
धम्मपद – १५/७.

तृष्णा सबसे बड़ा रोग है (और उसके कारण) जो संस्कार बनते हैं वे सबसे बड़े दुःख हैं। (तृष्णा और उससे बनते संस्कारों को अपने भीतर विपश्यना साधना द्वारा) यथाभूत जानकर जो निर्वाण (प्राप्त होता) है, वह सबसे बड़ा सुख है ।

रोग बनाम विपश्यना

जीवन एक संघर्ष है । इसमें जन्म से लेकर मरण तक द्वन्दों की श्रृंखला जुड़ी हुई है— सुख-दुःख, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ, प्राप्ति-अप्राप्ति, तृप्ति-असंतोष, मान-अपमान, सुदिन-दुर्दिन सब ही आते-जाते रहते हैं । इन उतराव-चढ़ावों में, द्वन्दों से जूझता मानव, सदा चिंता और तनाव की जिन्दगी बसर करता है । यह एक कटु सत्य है । इसे नकारा नहीं जा सकता । यही चिन्ता और तनाव की स्थिति अस्वस्थता का एक मुख्य कारण बन जाती है । तनाव से मन में बेचैनी रहती है— परिणाम स्वरूप व्यक्ति न तो भली प्रकार कुछ सोच सकता है और न ही कुछ ठीक ठीक कर ही पाता है । विचारों के ऊहापोह में उलझा रहता है । यह बेचैनी की अवस्था और अधिक तनाव उत्पन्न करती है, जिसके कारण उसके स्वभाव में रूखापन आने लगता है । नींद नहीं आती, भूख कम हो जाती है, काम करने की रुचि नहीं होती; जीवन से ऊबने लगता है । कार्यक्षमता न्यून हो जाती है और मानसिक उथल-पुथल होती रहती है । इससे और भी चिंता होती है और एक विषम चक्र या वात्याचक्र बन जाता है । वह रात को सोने के बदले उठ उठकर बेचैनी से डग भरता है, सिगरेट पीता है, बार बार चाय पीता है, चिढ़ता है, अकारण क्रोध करता है । यह सब उसके जीवन की रोजमर्रा की बातें बन जाती हैं ।

इस समस्या का मूल कारण खोजें तो ज्ञात होता है— जब जब व्यक्ति में हीनभावना या विकार उत्पन्न होते हैं तब तब मन में कुंठा, तनाव और बेचैनी होती है । ऐसी स्थिति क्यों होती है ? इसलिए कि जब कोई अवांछित घटना घट जाय या जैसा हम चाहते हैं वैसा न हो या हमारी अपेक्षा के विपरीत कुछ हो जाय या कोई कुछ ऐसा कह दे या कर दे जो हमें पसन्द नहीं तो ऐसा होते ही मन में एक झुंझलाहट सी पैदा होती है— ऐसा क्यों हुआ, कैसे निवारण हो ? आदि चिंताएँ होने लगती हैं । और चिंता तो एक भयानक अवस्था है । इसे तो चिता से भी बुरा कहा गया है । चिता तो मृतक के शव को ही जलाती है, पर चिंता जीवित व्यक्ति को खा जाती है । निरंतर चिंता सताती रहे तो धीरे धीरे अनेक रोग पनपने लगते हैं । पहले छोटे छोटे साधारण रोग और फिर धीरे धीरे भयंकर रोग जैसे बढ़ा हुआ रक्तचाप, हृदय-रोग, मधुमेह (डायबिटीज), वृक्क (किडनी) रोग घर कर लेते हैं । कभी कभी तो मानसिक तनाव इतना बढ़ जाता है कि व्यक्ति मानसिक संतुलन खो बैठता है और विक्षिप्त (पागल) सा हो जाता है । अतः मनीषियों ने ठीक ही कहा है कि सब क्लेशों का मूल भय, आशंका और तृष्णा ही है । जब तृष्णा पूरी नहीं होती तो चिंता होती है और रोग पीछे पीछे स्वतः आ ही जाते हैं ।

मन और शरीर का अटूट संबंध है । कायिक और मानसिक क्रिया में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । मन में जो कुछ होता है, शरीर पर व्यक्त होता है । सच तो यह है कि मन ही शरीर की सारी क्रियाओं का नियंत्रण करता है । इसे समझने के लिए एक रोजमर्रा होनेवाली क्रिया का उदाहरण लें : भोजन करना । आंखें आहार को देखती हैं, नासिका उसकी सुगंध पाती है, जिह्वा उसका रस लेती है । ये सब बाह्य इंद्रियाँ उस आहार के अपने अपने अनुभव को मन तक पहुँचाती हैं । मन को आहार पसंद आ गया, बस फिर क्या था, तुरन्त ही यह सूचना शरीर के सारे केन्द्रों में पहुंच जाती है— स्वतःचालित ज्ञान-तंतुओं द्वारा आमाशय की जठराग्नि तीव्र हुई, पाचक स्राव रसने लगा, आंतो की ग्रंथियों ने अपना रस उडेलना आरंभ कर दिया, पैनक्रियास ने इनसुलिन (शर्करा-

पाचन-रस) बनाने का उपक्रम कर दिया। भोजन को पचाने की क्रिया आरंभ हो गयी। इस प्रकार भोजन देखने की कायिक क्रिया को मन ने एक जीव-रासायनिक (bio–chemical) क्रिया में बदल दिया। यही बात शब्द के सुनने, त्वचा से स्पर्श होने, रस के चखने, रूप को देखने के बारे में भी अक्षरशः लागू होती है। इन सभी इंद्रियजगत की क्रियाओं की प्रतिक्रियाएं शरीर के अंदर की ग्रंथियों पर प्रभाव डालती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ हमारी इच्छा के आधीन नहीं, वे स्वतः कार्य करती हैं– मन द्वारा संदेश प्राप्त होने पर।

एक और उदाहरण लें:—

जब हम शोक-संतप्त होते हैं या अति प्रमत्त हो जाते हैं तो आंखों में आंसू आ जाते हैं। जब भयभीत होते हैं या क्रोधित होते हैं तब भी शरीर स्थित एडरीनल ग्रंथि अपना श्राव बढ़ा देती है। क्रोध आया, चेहरा लाल हो गया, आंखें रक्तवर्ण, त्योरी चढ़ी हुई, भृकुटि तनी, आवाज तेज, गर्जती हुई, नाड़ी तेज, हृदय-गति बढ़ी हुई, रक्तचाप बढ़ जाता है तो क्या होता है – हम वह सब कर गुजरते हैं जो सामान्यतया नहीं करते। हम गाली देते हैं, झगड़ते हैं, अभद्र और अशोभनीय प्रदर्शन करते हैं। मारपीट करते हैं और कभी कभी हत्या तक कर डालते हैं। यह सब इसलिए हो जाता है कि किसी ने कुछ कह दिया या कर दिया जो हमें पसन्द नहीं था। एक बाह्य जगत की घटना ने इतना सारा उत्पात मचाया।

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जो कुछ बाह्य जगत में अनुभव करती हैं उनकी प्रतिक्रिया हमारे मन पर होती है और उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। इस सत्य का अनुभव हमें प्रतिदिन ही अपने जीवन में होता है। जीवन के संघर्ष में हमें ऐसी विषम परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ता है और कुप्रभाव अन्ततः अशांति और अस्वस्थता का कारण बन जाता है। यह कुंठा तथा अशांति की स्थिति उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि परिवार के सदस्यों, संबंधिओं तथा समाज को संतप्त करने का कारण बन जाती है।

अब समस्या यह है कि किस प्रकार इस परिस्थिति से बचा जाय। एक उपाय है कि विषम परिस्थिति आने पर मन को कहीं और मोड़ लें। मन एक बार में एक ही कार्य कर सकता है। तो जब क्रोध आए तो पानी पी लें या किसी मन्त्र का जाप कर लें, या किसी इष्ट देव का ध्यान कर लें। इससे बला टल जायेगी। यह सुनने को सरल है परन्तु करने में इतना आसान नहीं है। यह व्यावहारिक भी नहीं है। इतना सब करने के लिए समय ही कहाँ मिलता है? क्योंकि मन जगत में सबसे शीघ्रगामी है। आपके कुछ करने के विचार आने के पहले ही उसने प्रतिक्रिया कर डाली होती है। जब शैतान सर पर सवार हो गया तो और किसी का जोर नहीं चलता। अतः यह उपाय कारगर नहीं। यदि है भी तो इसका प्रभाव क्षणिक होगा, अस्थायी होगा। तो कोई और अच्छा उपाय ढूढ़ना पड़ेगा।

ऐसा करने के लिए हमें समस्या के मूल में जाना पड़ेगा। पहले अपने आपको जानना पड़ेगा। जिसे हम शरीर कहते हैं यह एक क्रिया तथा प्रतिक्रियाओं का संग्रह मात्र है। जैसे एक नदी का जल प्रवाहित होता रहता है, भले ही वह ऊपरी आँख को स्थिर दीखता हो; इसी प्रकार इस शरीर का कण कण, कोष कोष, प्रतिपल बदलता रहता है। साधारणतया हम उसे अनुभव नहीं कर पाते हैं। एक शव को चीर-फाड़कर देखें तो हम उसके अवयवों की बनावट को ही देख पाते हैं – यह अस्थि है, यह मांसपेशी जुड़ी है, यह रक्तवाहिनी शिरा है, यह धमनी है; यह ज्ञान-तन्तु यहाँ से निकलकर वहाँ तक फैला हुआ है; यह हृदय है, ये फेफड़े हैं आदि आदि, परन्तु इन सब में होनेवाली क्रिया को नहीं देख पाते। जीवित शरीर में भी यदि चीर कर देखें तो भी बाह्य क्रिया को ही। जीव-रासायनिक क्रियाओं, विद्युत-चुम्बकीय अवस्थाओं को नहीं देख सकते। ऐसा इसलिए है कि हमारी दृष्टि, संवेदन-शक्ति उतनी पैनी नहीं है कि इन सूक्ष्म क्रियाओं का अनुभव कर सकें। इस परम सत्य को जानने के लिए हमें अपने मन को और भी पैनी दृष्टिवाला बनाना होगा, जिससे हम शरीर के भीतर पैठ कर यह सब कुछ अनुभव कर सकें।

इसके लिए हम पहले स्थूल का निरीक्षण करते हैं। फिर शनैः शनैः सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं। फिर बाद में संवेदनाओं को देखते हैं। पहले ऊपरी सतह पर त्वचा पर, फिर शरीर के गहरे याने भीतर तक संवेदनाओं के आधार पर यह आत्मदर्शन या आत्म-निरीक्षण ही अन्तर्मुखी होने का साधन है और विपश्यना हमें यही सिखाती है।

विपश्यना पालि भाषा का एक शब्द है। यह पश्य धातु से बना है। इसका सादा सा अर्थ है खुली आँखों से देखना। "विपश्यना" याने विशेषरूप से देखना अर्थात जो कुछ जैसे है उसे वैसे ही, बिना किसी लाग-लपेट के, उसके गुण, धर्म, स्वभाव में देखें; न कि जैसा वह ऊपर से दीखता है। इससे हमारे ध्यान का केन्द्र अन्दर के जगत की ओर उन्मुख होता है। इसे सतत् जागरूकता की विधि भी कहा गया है। विपश्यना के महान आचार्य गुरुदेव ऊ बा खिन के अनुसार विपश्यना का उद्देश्य सत्यान्वेषण करना है जिससे कि अन्दरूनी और बाहरी शांति और मन की समता पाई जा सके।

इस विधि में मन ही साधन है। ध्यान की सारी शक्ति को अन्तर्मुखी बनाना है। इसमें पुरानी आदतें जिन्हें हम बचपन से पालते आ रहे हैं, बदल जाती हैं। अर्थात बाहर ही बाहर देखने और अन्तर का अनुभव न होने पाने के बदले अन्तर को देखना आता है। विपश्यना इसी गलत आदत को सही मार्ग पर लाना सिखलाती है।

बाहरी जगत का समस्त ज्ञान इंद्रियों द्वारा केवल मन की शक्ति द्वारा ही प्राप्त हुआ है। विपश्यना मन की इस शक्ति को अन्तर की ओर मोड़ देती है। मन को इधर-उधर भटकते रहने के बदले साधक इसे अन्दर के जगत की ओर केन्द्रित करता है। मन इस प्रकार वश में हो जाने पर अन्तर्जगत का विश्लेषण करता हुआ दुःख के मूल कारण को खोजने लगता है। जब दुःख के मूल

कारण को जान गए तो उसका निवारण करना भी सीखने लगते हैं। और इस प्रकार घुटन, चिंता और अस्वस्थता के मूल कारण का निवारण हो जाता है। क्योंकि इन सब का मूल कारण तो दुख ही है। हमने देख लिया कि मानसिक तनाव ही अनेक व्याधियों को जन्म देता है और इसका उपचार विपश्यना है। वास्तव में इस विधि द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न और पुरुषार्थ से हजारों रोगाक्रान्त व्यक्तियों ने राहत पाई है। अनेकों को दवाओं से छुटकारा मिल गया और मादक पदार्थों की लत भी छूट गई। बहुतों की शारीरिक व्याधियों का अन्त हो गया, मन संतुलित हो गया और वे सामान्य व्यक्ति जैसा व्यवहार करने लगे।

विपश्यना द्वारा मन के विकारों से मुक्ति मिलती है। मन में जो राग, द्वेष तथा मोह के संस्कार दबे पड़े हैं उनकी उदीर्णा और निर्जरा (नाश) हो जाती है। साधक वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह की अवस्था प्राप्त कर लेता है। विपश्यना हमें समता बनाए रखने की क्षमता प्रदान करती है। व्यक्ति निर्विकार हो जाता है और एक शांतिमय उत्तम जीवन-यापन करता है। विपश्यना स्थितप्रज्ञ होने का शुभारंभ है।

विपश्यना से कभी किसी को कुछ हानि होने की संभावना नहीं है, बल्कि यह सर्वहितकारी है। इससे मानसिक शांति प्राप्त होती है। सोचने समझने और विचार की शक्ति निर्मल और पैनी हो जाती है। स्वभाव में कोमलता आती है, व्यक्ति प्रसन्नचित्त रहता हुआ, काम के बोझ से न दबता हुआ पहले से अधिक काम कर पाता है। फलस्वरूप उत्तम स्वास्थ्य, सुखी जीवन तथा संसार की सारी विषम परिस्थितियों को जीत कर जीने की कला हाथ लगती है।

इसका अभ्यास कर सभी मंगललाभी हों !

(श्रद्धेय डॉ. ओमप्रकाशजी गुरुदेव गोइन्काजी के गुरुभाई हैं। वह परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन के अत्यंत प्रिय निकटतम शिष्यों में से एक रहे हैं। अब बरमा से अवकाश प्राप्त कर दिल्ली आ बसे हैं। – सं.)

साधकों के उद्‌गार

जोधपुर से श्री शांतिचंद भंडारी लिखते हैं, " सितम्बर १९८५ के हैदराबाद के मेरे पहले विपश्यना साधना शिविर के पश्चात् मेरी विचारधारा में तनिक परिवर्तन अवश्य आया। अन्तरमन में धधकते हुए भयानक ज्वालामुखी का प्रथम बार दर्शन हुआ। आर्यमौन एवं अधिष्ठान तथा शिविर के नियमों के पालन द्वारा मन की गहराइयों में छाई मलीनता सामने नजर आने लगी। क्रोध से होनेवाले अपने विनाश को भी कुछ हद तक समझा लेकिन वास्तविकता को स्वीकार करने का साहस एवं सही मानस नहीं बन पाया।

फिर एक बार विपश्यना साधना के प्रयोग द्वारा मन को निर्मल बनाने हेतु जयपुर में तारीख ७ से १८ मार्च, ८६ वाले शिविर में सम्मिलित हुआ। इस शिविर में आप नहीं पधार सके, लेकिन सहायक आचार्यों ने हमारा मार्ग निर्देशन बड़ी सुन्दरतापूर्वक किया तथा मेरे अनुभवानुसार यह शिविर मेरे लिए विशेष लाभप्रद रहा। शिविर में रहते समय ही विचारधारा में सबल परिवर्तन का अनुभव हुआ। जागृति की इस अवस्था में घर पहुंचते ही दो घरेलू मुकदमों का खातमा करने का निश्चय कर दोनों पार्टियों के पास स्वयं जाकर क्षमा-याचना की। पिछले पांच वर्षों से इन मुकदमों की वजह से अपने आपको व्यर्थ दुखी बनाए हुए था। उस चैप्टर को फाइनली क्लोज करते ही मन में बड़ा हल्कापन महसूस हुआ। मानो लाखों मन का बोझ सिर से उतर गया हो। आन्तरिक भावनाओं में भी ठोस (Substantial) परिवर्तन नजर आ रहा है। कोई भी कदम उठाने के पहले उसके परिणाम के विषय में ध्यान से गहराई में जाने की इच्छा होती है। ऐसी चित्त-अवस्था में जागरणता आने लगी है तथा पुरानी ग्रंथियां खोलने के लिए चेष्टा कर रहा हूँ। "

कानपुर की श्रीमती ललिता रस्तोगी लिखती है, " गत मार्च-अप्रैल में मुझे हैदराबादमें विपश्यना साधना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मुझे लगा कि वे सब कितने भाग्यशाली हैं जो कि आपके सान्निध्य में विपश्यना से धर्मलाभ प्राप्त कर रहे हैं।

शिविर के दस दिन तो महासमुद्र की एक बूंद के बराबर भी नहीं हैं फिर भी धर्म की अमृतविन्दु का जो स्वाद चखा उसे बार बार प्राप्त करने की लालसा बनी ही रहती है। स. आ. डॉ. विट्ठलदासजी मोदी के जरिए हमें बहुत कुछ प्राप्त हुआ फिर भी आपके दर्शन और मार्गदर्शन की प्रबल कामना है। "

इसी शिविर में बैठे श्री कपिल रस्तोगी लिखते हैं, " हम दोनों इस शिविर में अपने एक मित्र (साधक) के कहने पर सम्मिलित हुए, जिस पर कि मेरा अंधविश्वास है; ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि विपश्यना के बारे में शिविर में आने के पूर्व बिल्कुल कुछ नहीं मालूम था। शिविर में बहुत कुछ जाना फिर भी लगा कि अभी बहुत कुछ जानना बाकी है।

अभी तो रास्ता देखा है, विश्वास भी दृढ़ हुआ है पर चलना बाकी है। फिलहाल दैनिक अभ्यास को पुरानी दिनचर्यामें फिट करना कठिन लग रहा है फिर भी अनवरत प्रयत्न जारी है। धीरे धीरे बदलाव आयेगा ही। जहाँ कहीं आपका वैयक्तिक संपर्क संभव हो, कई शिविरों में लगातार बैठने की इच्छा है।

धम्मखेत्त का शांत और हरियालीपूर्ण आकर्षक वातावरण बरबस ही मन एकाग्र करने में सहायता प्रदान करता है। आपके बोलने की भाषा और शैली बड़ी आकर्षक और प्रभावशाली है।

बम्बई के श्री एल. एस. इसरानी लिखते हैं। " धम्मगिरि की शांत धरा पर विपश्यना साधना करके धन्य हुआ। वहाँ की प्रत्येक वस्तु जैसे भोजनालय से लेकर पानी के मटके तक बड़े सुव्यवस्थित और सुनियोजित हैं।

मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे मेरे धर्मपिता से धर्ममय जीवन और वास्तविक दर्शन-शास्त्र की जानकारी मिली जो कि क्रियाकांड रहित पूर्णतया वैज्ञानिक है और देवी-देवताओं की मरीचिकासे दूर है। पर सबसे प्रभावशाली आपके तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग के प्रवचन रहे जो मानस पर अपना प्रभाव छोड़ गए हैं।

ध्यान-पद्धति नई और सरल है तब भी मन तथा शरीर पर विशेष प्रभाव छोड़ती है। आपने ठीक ही कहा कि उपलब्धि बहुत बड़ी है फिर भी रास्ता इतना लंबा है कि उसके मुकाबले नगण्य लगती है। आपका आशिर्वाद ही हमें अग्रसर करेगा। सबका मंगल हो!"

न्यूयोर्क, अमेरिका में कलाकृतियोंका व्यापार करनेवाली महिला लुसील लुकास जिसने कि अब तक दो विपश्यनाके शिविर लिए हैं, लिखती है, "मैने इस साधनाके द्वारा आत्म-सुधार और आत्म-विकास का एक बहुत अच्छा साधन प्राप्त कर लिया। स्व-दर्शन के लिए कई वर्षोंसे काम कर रही थी लेकिन विपश्यना द्वारा ही मुझे यह साधन मिला है जिससे कि मै आत्म-विकास कर सकूं और गहराइयों तक काम कर सकूं। मेरे जीवनका अंतिम लक्ष्य यही है कि साधनाके सहारे मे इस संसारमें एक अच्छे व्यक्तिका जीवन जी सकूं। संसार के सारे प्राणी सुखी हों!"

आस्ट्रेलिया के किसी रेस्टोरेंट में काम करनेवाली कु. कैली-मिनीफी, जिसने कि विपश्यना के अब तक चार शिविर लिए हैं, लिखती है, "इस साधना द्वारा मैं पहलेसे बहुत ज्यादा प्रशांत और प्रसन्न हो उठी हूं। अब न तो पहले जैसा क्रोध आता है, न भावावेश और न ही निराशाएं। अब मैं अपने परिवार के लोगों और मित्रोंके अधिक समीप आ गयी हूं और उनसे मेरे संबंध बहुत अधिक साम्य हो गए हैं। मैं किसी प्रकारके नशे-पतेका सेवन अब नहीं करती।"

दोहे धरम के

मैल चढ़े जब चित्त पर, चित रोगी ही होय।
रोगी चित व्याकुल बने, काया रोगी होय॥

जब जब चित निर्मल रहे, चित्त निरोगी होय।
स्वस्थ चित्त प्रमुदित रहे, काय निरोगी होय॥

क्रोध जगाए चित्त में, दुखी रहे दिन रैन।
अपना ही अनहित करे, छुटे शांति सुख चैन॥

जितने जगे विकार मन, उतनी ही भव व्याधि।
आकुल व्याकुल ही रहे, अन्तर भरी उपाधि॥

नाना जगे विकार मन, नाना हों दुख शोक।
नाना मन के रोग हों, नाना तन के रोग॥

दूर रहे दुर्भावना, दूर होंय भव रोग।
जगे सदा सद्भावना, सुखी रहें सब लोग॥

दूहा धरम रा

किसो क मन मैलो कर्‌यो, चित्त गंवायी चैन।
काया भी रोगी करी, र वै दुखी दिन रैन॥

जद जद अन्तरजगत मँह, रीझ जगै या खीज।
अपणो ही अनरथ करै, रोपै दुख का बीज॥

जद जद मन मैलो करै, मन रोगी ही होय।
जद जद मन रोगी हुवै, तन भी रोगी होय॥

जद जद मन निरमल हुवै, मुक्त रोग सूं होय।
रोगमुक्त मन होय तो, काय निरोगी होय॥

निरमल चित्त स्वभाव मँह, दुरगुण टिकै न कोय।
निज स्वभाव मँह स्थित हुयाँ, सहज स्वस्थ ही होय॥

ईं जग का प्राणी सभी, मुक्त दुखां सूं होय।
सैं को मन निरमल हुवै, सभी निरामय होय॥

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११० ००७
की मंगल कामनाओं सहित

विपश्यना विशोधन विन्यास के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक : रामप्रताप यादव, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२ ४०३. दूरभाष ८६
आश्विन पूर्णिमा * मुद्रण स्थान : विपश्यना प्रेस, धम्मगिरि, इगतपुरी. दूरभाष : ७६, १७६ * October 86

वार्षिक शुल्क रु. १०/-
आजीवन शुल्क रु. १००/-

विपश्यना रजि. नं. 19156/71
पोस्टल रजि. नं. NS(M) 16/86

Licence No. NS 18
to post without prepayment

प्रेषक :
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि इगतपुरी-४२२४०३
(जि. नासिक, महाराष्ट्र, मध्य रेल्वे)